International Journal of Research in Hindi
www.hindijournal.in
ISSN: 2582-3493
Received: 25-10-2022, Accepted: 11-11-2022, Published: 27-11-2022
Volume 4, Issue 2, 2022, Page No. 18-21

सामाजिक और लोकतान्त्रिक जीवनमूल्यों के संरक्षण में साहित्य की भूमिका

डॉ. सुरेन्द्र कुमार
सहायक प्रोफ़ेसर (हिन्दी), राजकीय महाविद्यालय, भिवानी, हरियाणा, भारत

सारांश
आज की राजनीति का ''नीति'' से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह केवल ''राज'' केन्द्रित होकर रह गई है। राजनीति अब जनसेवा का माध्यम न होकर सत्ता–सुख भोगने का एक साधन मात्र बन गई है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में लोकमंगल की कामना केवल साहित्य का मूल स्वर है और वह मनुष्य को उसकी सम्पूर्णता में समझने का प्रयास करता है। इसलिए साहित्यकार का लक्ष्य केवल कल्पना के रंगीन लोक में विचरण करके रचना करना नहीं है अपितु समाज और मानव को सही दिशा की पहचान कराना भी है। वह उपदेशक नहीं अपितु उपदेश के मर्म को समझाता है। उत्कृष्ट साहित्य का सृजन ही उत्कृष्ट समाज व लोकतन्त्र की बुनियाद बनता है। अच्छा साहित्य राजनीति के छल–छद्‌म को उद्‌घाटित करते हुए भी जनजीवन के विशिष्ट रूप का प्रतिपादन करता है और उसमें अर्थवत्ता भर देता है। इसलिए साहित्य ही मानवता की स्थायी सम्पत्ति है जो युग–युगों तक शाश्वत बनी रहती है। यही कारण है कि प्रत्येक साहित्यिक रचना में समाज के लिए कोई न कोई सूक्ष्म संदेश अवश्य सन्निहित रहता है जोकि साहित्य की मूल संवेदना होती है।

मूल शब्दः संजीवनी, लोकमंगल, युगद्रष्टा, यथर्थवादी, लोकतान्त्रिक, प्रामाणिकता, पारदर्शिता, ईमानदारी, राष्ट्रवाद, पितृसत्तात्मक, सर्वहारा, जननायक, त्रासदी, जीवनमूल्य।

प्रस्तावना

जो राज–व्यवस्था लोभ–लालच और छल–कपट से परे रहकर नीति व कर्त्तव्यपरायणता के साथ जनसाधारण के सुख–दुख की सहचरी बने, वही तो राजनीति कहलाती है। लेकिन यदि आज की राजनीति को इस कसौटी पर कसा जाएगा तो निराशा ही हाथ लगेगी क्योंकि आज की राजनीति का ''नीति'' से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह केवल ''राज'' केन्द्रित होकर रह गई है। राजनीति अब जनसेवा का माध्यम न होकर सत्ता–सुख भोगने का एक साधन मात्र बन गई है। जबकि साहित्य जीवन के हर क्षेत्र में सत् का आचरण करना सिखाता है क्योंकि यदि हमें सर्वाधिक नैतिकता कहीं दिखाई देती है तो वह साहित्य में ही है। सभी प्रकार के दाँव–घात का चित्रण करते हुए भी अन्त में जीत नीति की ही होती है, यही साहित्य की सबसे बड़ी खूबी है। आज के विषैले राजनीतिक वातावरण और विद्रूपताओं के बीच जनसाधारण को यदि कहीं से जीवट–जिजीविषा और संजीवनी मिलती है तो वह साहित्य से ही मिलती है, जो आमजन को उसके कुशलक्षेम की आशा बंधा रहा है।

साहित्य का मूल स्वर लोकमंगल की कामना है और वह मनुष्य को उसकी सम्पूर्णता में समझने का प्रयास करता है। साहित्यकार का आग्रह तत्कालीन धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर रहते हुए भी अपनी लेखनी से जनसाधारण के जीवन–संघर्ष को उद्‌घाटित करना उसकी प्राथमिकता रहती है। वह युगद्रष्टा साहित्य का सृजन करते हुए आम आदमी को राजनीति के धुंधलके वातावरण से बाहर निकालकर मानव–मन की सहज जिज्ञासा वृत्ति को तृप्ति प्रदान करता है। इसीलिए साहित्य का उद्देश्य लोकहित प्रेरित मानवतावादी रहा है। ''आरम्भ में मानवतावाद मानवता को शोषण और बन्धन से मुक्त करने के महान् और उदार आदर्शों से चालित हुआ था। हमारे देश में भी नए जीवन–साहित्य के स्पर्श से नवीन जीवन–आदर्श जाग पड़े। मानवतावाद भी आया, दलितों, अधःपतितों और उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति का भाव भी आया और साथ ही साथ राष्ट्रीयता भी आई।''[1] तदन्तर राष्ट्रवाद की अवधारणा ने जोर पकड़ा तो मानवतावाद की अवधारणा अपने आदर्श और मानकों से दूर होने लगी तथा वर्गभेद अवतरित होने लगा। उसमें उत्कृष्ट और निकृष्ट का विकृत मतवाद दिखाई देने लगा। एक में देवता का वास तो दूसरे में पशुता का आभास संचरित होने लगा। इस प्रकार मनुष्य की महिमा और गरिमा को ग्रहण लगने लगा। लेकिन इस संक्रमण के दौर में साहित्य सजग रहा। तभी से ''हमारे साहित्यकारों ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है। अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है – सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का है। अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी।''[2] इसी भावना ने निराश हो रहे जनसाधारण के मन में नई आशा और उमंग पैदा की। यही कारण रहा कि सत्ता–संघर्ष से पीड़ित–शोषित लघुता पर अधिक दृष्टि रहने के कारण साहित्यकारों की इस मानवतावादी विचारधारा को लोकहितवादी कहा जाने लगा। यह शाश्वत सत्य है कि जब–जब इतिहास विचारों को उत्तेजित करने में असहाय दिखाई देने लगा तब–तब साहित्य लोकतान्त्रिक अवधारणा को पुष्ट करते हुए लोकमंगल और लोकरंजन के विशिष्ट स्वरूप को हृदयंगम कराने में अधिक समर्थ सिद्ध हुआ है।

प्रारम्भ से ही साहित्य, समाज और लोकतंत्र का चोली–दामन का सम्बन्ध रहा है। कोई भी साहित्यकार लोकतांत्रिक शक्ति को समझकर ही अपने नाटक, कहानी, उपन्यास आदि की रचना करता है। कोई भी नाटक, उपन्यास, कहानी, कविता की कृति सामाजिक जीवन से ही जीवनदायिनी शक्ति पाती है। इसलिए यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि समाज, साहित्य और व्यवस्था एक ही कार्य के कई नजरिए हैं। उदाहरण के लिए प्रेमचंद, निराला, पंत या किसी भी जनवादी रचनाकार की कविताओं, कहानियों और उपन्यासों को देखा जा सकता है जिनमें लोकतंत्र की सीधी झलक नजर आती है

तथा व्यापक, सहज और सार्थक जीवन के घटनाचक्र ही दिखाई देते हैं क्योंकि अच्छे–बुरे का ध्यान रखना और एकपक्षीय दृष्टिकोण रखना रचनाकार का कर्त्तव्य नहीं होता है। इस दिशा में उपन्यास एक सजग प्रहरी की भूमिका में रहता है। ''उपन्यास केवल काल्पनिक कथा नहीं है, उसका आधार यथार्थ है। उपन्यासकार केवल गगन–विहार नहीं करता बल्कि उसकी कलम का आधार धरातल है। गद्य में रचित यह केवल काल्पनिक उड़ान नहीं है। इसकी उपज तो इसी धरती की मिट्टी से हुई है।''[3]

यदि कोई साहित्यकार कार्ल मार्क्स के समाजवाद को स्वीकारता है तो उसे गांधीवाद में भी उसकी उतनी ही आस्था है। प्रेमचंद, निराला, पंत आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उन्हें आदर्श और यथार्थ का समन्वय अतिप्रिय है। सुमित्रानन्दन पंत ने ''युगवाणी में तो वर्तमान जगत् में सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रायः जितने वाद, जितने आन्दोलन उठे हैं, सबका समावेश किया है। पंतजी ने समाजवाद के प्रति भी रुचि दिखाई है और गांधीवाद के प्रति भी। ऐसा प्रतीत होता है कि लोकव्यवस्था के रूप में तो 'समाजवाद' की बातें उन्हें पसन्द हैं और व्यक्तिगत साधना के लिए 'गांधीवाद' की बातें।''[4] इसलिए किसी भी सभ्य समाज में सामान्यजन के दृष्टिकोण के नवनिर्माण के पीछे साहित्यकारों की जीवनदृष्टि भी काम करती है क्योंकि किसी भी विचारधारा का अनुसरण करने वाला कोई भी रचनाधर्मी अन्ततः समाजवादी, आदर्शवादी और यथार्थवादी विचारधारा का पोषक होता है। उसकी जीवनदृष्टि जीवन के अनुभूत सत्य पर आधारित होती है। इस सम्बन्ध में डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का मत है कि *''उपन्यास के इतिहास या उसकी आलोचना का अध्ययन करते समय यही तथ्य विशेषतः विचारणीय होता है कि लेखक जीवन का अनुभूत सत्य भी उसके अपने समाज और राष्ट्र का व्यापक सत्य होता है जो छनकर उसकी रचना में आता है और जिससे पाठक अपना निकटतम परिचय स्थापित करता है।''* [5] साहित्यकार इतिहास, राजनीति, संस्कृति तथा समाज के अन्य क्षेत्रों से सारतत्व ग्रहण करता है। फलतः साहित्य की प्रत्येक विधा मानवतावाद और लोकतान्त्रिक जीवन मूल्यों को पोषित करती है। वह अनुभूत सत्य और भोगे हुए यथार्थ का साक्षी बनकर मानव मन की अतल गहराइयों में उतरने का साहस रखता है। साहित्यकार माहेश्वर तिवारी का कथन है कि ''साहित्य और लोकतंत्र का एक बेजोड़ रिश्ता है। उन्होंने साहित्यकार रेणु के संबंध में एक उदाहरण देते हुए कहा कि एक बार रेणु जी ने बिहार से चुनाव लड़ा। तो साहित्यकारों ने इस पर उनसे पूछा कि रेणु जी आप और चुनाव ? तो उन्होंने उत्तर देते हुए कहा कि मैं चुनाव सत्ता सुख भोगने के लिए नहीं लड़ रहा हूँ बल्कि मुझे लोगों के दिलों में उतरना है, उनके बीच में जाकर उन्हें जानना है, यह लेखन में मददगार साबित होगा।''[6] उत्कृष्ट साहित्य का सृजन ही उत्कृष्ट समाज व लोकतन्त्र की बुनियाद बनता है। अच्छा साहित्य राजनीति के छल–छद्म को उद्घाटित करते हुए भी जनजीवन के विशिष्ट रूप का प्रतिपादन करता है और उसमें अर्थवत्ता भर देता है। इसलिए साहित्य ही मानवता की स्थायी सम्पत्ति है जो युग–युगों तक शाश्वत बनी रहती है। यही कारण है कि प्रत्येक साहित्यिक रचना में समाज के लिए कोई न कोई सूक्ष्म संदेश अवश्य सन्निहित रहता है जोकि साहित्य की मूल संवेदना होती है। यही मूल संवेदना अपनी परिणति पर पहुँचकर पाठक के मन को आन्दोलित कर जाती है। वस्तुतः साहित्य का सच्चा उद्देश्य मानव जीवन की संतुलित व्याख्या ही है। किसान जीवन की पीड़ा को उद्घाटित करता प्रेमचन्द का 'गोदान' हो या भारत विभाजन की त्रासदी का मार्मिक दस्तावेज यशपाल का 'झूठासच' हो या लोक संस्कृति को रेखांकित करता फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आंचल' हो या समरस समाज व आनन्द लोक की अभिलाषा को संजोई हुई जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' हो या समाज सेवा और प्रेम का संदेश देने वाली हरिऔध की 'प्रियप्रवास' हो या किसी भी साहित्यकार की कोई भी रचना क्यों न हो उन्होंने समाज और मानव मन की दूरियों को पाटने व उन्हें जोड़ने का उल्लेखनीय कार्य किया है। उन सभी में केवल मनोरंजन का कर्म नहीं अपितु उपदेश का मर्म भी निहित था और इसी मूलमंत्र को लेकर सभी साहित्यकार कलम के मजदूर और सिपाही बनकर आदर्श समाज के निर्माण में बहुमूल्य योगदान के लिए तत्पर और समर्पित दिखाई देते थे। यद्यपि साहित्यकार का उद्देश्य उपदेश देना नहीं हैं किन्तु उसका व्यापक चिन्तन समाज को नई दिशा देता है। उसका लक्ष्य केवल कल्पना के रंगीन लोक में विचरण करके रचना करना नहीं है अपितु समाज और मानव को सही दिशा की पहचान कराना भी है। वह उपदेशक नहीं अपितु उपदेश के मर्म को समझाता है। इसीलिए मैथिलीशरण गुप्त की भारत–भारती की ये पंक्तियाँ यहाँ समीचीन नज़र आती हैं –

''केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए
क्यों आज रामचरित मानस सब कहीं सामान्य है
सत्काव्ययुत उसमें परम आदर्श का प्राधान्य है।''[7]

साहित्य–लेखन की विशुद्ध परम्परा में अधिकांश साहित्यकारों का न्यूनाधिक अवदान रहा है। वे केवल ''कला कला के लिए'' के ही समर्थक नहीं रहे अपुित उन्होंने साहित्यिक कला को समाज का दर्पण बनाकर जनता की चित्तवृत्ति के संचित प्रतिबिम्ब के रूप में अवतरित किया। उन्होंने इतिहास के पन्नों में भी आधुनिकता को खोजा है। इसलिए साहित्य इतिहास का अवलम्बन लेकर आधुनिक समाज को विराट समस्याओं से उबारने का प्रयास करता है तथा उनका सर्वमान्य हल खोजने का प्रयास भी करता है। साहित्य समाज की परम्पराओं और पारम्परिक मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करके वर्तमान में उन परम्पराओं और मूल्यों की उपादेयता को भी उद्घाटित करता है। वह समाज को एक नया इतिहास बोध प्रदान करता है। साहित्य में एकतंत्र और प्रजातंत्र का संघर्ष, नारी शोषण और मुक्ति का संघर्ष, धार्मिक कट्टरता और सर्वधर्म समभाव व साम्प्रदायिक सौहार्द की मान्यता, अंधविश्वासों और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का द्वंद्व आदि विचारणीय प्रश्न अतीत से ही समाज के सामने विद्यमान रहे हैं। प्राचीनकाल से जहाँ प्रथम पक्ष के समर्थक अपनी कुछ कुत्सित पुरातन परम्पराओं से चिपके बैठे हैं, वहीं दूसरे पक्ष के समर्थक उन सड़ी गली मान्यताओं से समाज को मुक्ति दिलाकर अपनी कल्याणकारी विचारधारा को पुष्पित और पल्लवित होते हुए देखना चाहते हैं। इस प्रकार किसी भी युग का साहित्य उन समस्याओं को उठाकर इतिहास और वर्तमान के बीच कालक्रम को जोड़ने का सचेतन प्रयास करता है।

वर्तमान को जानने के लिए व्यक्ति को इतिहास से जुड़ना पड़ता है। अतीत में झांकना मनुष्य का स्वभाव रहा है और कई बार वर्तमान की झंझाओं का अतीत के सहारे ही सामना किया है। इतिहास ने मनुष्य को इतना सम्बल प्रदान किया है कि उसके सहारे वर्तमान की हीनताओं, दुर्बलताओं, कुंठाओं और पीड़ाओं से छुटकारा पाया है। इस दृष्टि से इतिहास और साहित्य समाज और लोकतांत्रिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने का काम करते हैं। वह परम्परा बोध के साथ–साथ कर्त्तव्य बोध भी प्रदान करता है। ''हिंदी साहित्य के आधुनिक युग में भारतेंदु युग से लेकर द्विवेदी युग और छायावाद तक हम स्वाधीनता आंदोलन और नवजागरण की चेतना के आरंभ, बहुपक्षीय विकास और चरमोत्कर्ष को लक्षित कर सकते हैं। इन तीनों काव्यधाराओं में देश–प्रेम की अभिव्यक्ति जिन विभिन्न रूपों में हुई है, वह इस तथ्य का प्रमाण है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा नवीन, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा और सुमित्रानंदन पंत आदि अनेक रचनाकारों की कृतियों में भावबोध और चिंतन के स्तर पर भारत देश और भारतीय अस्मिता का जो व्यापक, उदार, मानवतावादी और प्रगतिशील स्वरूप उभरता है, उसमें जनहित की चिंता, उद्‌बोधन और आत्मविश्वास की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति हैं। भारतवासियों को आत्म–मंथन के लिए उद्‌बोधित करती मैथिलीशरण गुप्त की ये पंक्तियाँ आज भी कितनी प्रासंगिक हैं: –

''हम कौन थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएं सभी।''[8]

इसके अतिरिक्त आज के दौर में यह विडम्बना ही कही जाएगी कि देश और समाज राजनीतिक द्वेष, दुराग्रह और पूर्वाग्रह से ग्रसित होता जा रहा है तथा साहित्यकार भी इसी दलगत राजनीति के शिकार होने लगे हैं क्योंकि भारत का मीडिया जो कि लोकतन्त्र का चौथा स्तम्भ कहलाता है, वह कॉरपोरेट के हाथों की कठपुतली बनकर अपने कर्त्तव्य कर्म, सात्विक धर्म, प्रामाणिकता, पारदर्शिता और ईमानदारी से दूर होता जा रहा है। किसी दल विशेष के हित साधने के लिए महापुरुषों का चरित्रहनन करना, साम्प्रदायिक सौहार्द को आघात पहुँचाना, आम आदमी की मूल समस्याओं से ध्यान भटकाना, छद्‌म राष्ट्रवाद का ढिंढोरा पीटना, विरोधी दलों के प्रति विषवमन करना ही जैसे उसका एकमात्र कार्य है। वह जनता जनार्दन की आंखों पर पर्दा डालने के लिए अहर्निश परिश्रम कर रहा है। इसलिए उसे 'गोदी मीडिया' के नाम से अभिहित किया जाने लगा है। किन्तु यह लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए शुभ संकेत नहीं है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हमारे साहित्यकार राजनीति की इस कालिमा से अपने आपको कितना बचाकर रखते हैं और कितने निर्विकार भाव से मानव जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं और समस्याओं का मूल्यांकन और उद्‌घाटन करते हैं, यह भी विचारणीय और द्रष्टव्य है। इस संक्रमण काल में युगधर्मी साहित्यकारों की सजगता और अधिक वांछनीय है। इस दौर में साहित्य ही वह संजीवनी है जो मृतप्रायः किन्तु स्वस्थ सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक, राजनीतिक व लोकतांत्रिक परम्पराओं में प्राण फूंक सकता है।

कानून और राजनीति जहाँ साहित्यकारों की आलोचना के निशाने पर होते हैं, वहीं रचनाकारों को उम्मीद भी इनसे ही है। वह लोकतांत्रिक चुनाव प्रक्रिया में महिलाओं की बढ़ती भागीदारी को शुभ संकेत मानता है, हालांकि यह रेखांकित करना जरूरी है कि इस भागीदारी के बावजूद अभी महिलाएं भाव–ताव कर सकने या जवाब–तलब कर सकने लायक दबाव समूह के रूप में नहीं उभर पाई हैं यानी असंगठित मजदूर होने के साथ–साथ वे असंगठित वोटर भी हैं। बहरहाल, आशावादिता और सरलीकरण का सबसे चरम रूप तब उभर कर सामने आता है जब वे कहती हैं कि समाजवादी क्रांति या कोई नवीन अर्थव्यवस्था गरीबी भले ही मिटा दे लेकिन महिलाओं की स्थिति में कोई बुनियादी सुधार नहीं कर सकती क्योंकि समाज की रचना तब तक पितृसत्तात्मक नियमों के अनुकूल ही होती रहेगी, जब तक महिलाओं की पहुंच संसद और नौकरशाही के ऊंचे पदों पर नहीं हो जाए। यानी जरूरत पितृसत्तात्मक सामाजिक–राजनीतिक ढांचे को बदलने की नहीं, उस पर काबिज होने की है; यह उम्मीद भी तब जबकि प्रधानमंत्री–राष्ट्रपति से लेकर राज्यों के मुख्यमंत्री पदों पर महिलाएं आती रही हैं, लेकिन किसी ने भी महिलाओं के लिए कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं किया। उन्होंने बड़े–बड़े पदों पर बैठी सफल स्त्रियों द्वारा अन्य स्त्रियों की बेहतरी के लिए कुछ भी न करने की भर्त्सना की है। विचारणीय है कि क्या इस तरह की अस्वस्थ परम्पराएं तभी नहीं हटेंगी जब पुराने स्थापित स्वार्थी गुटों की जगह महिलाओं तथा सभी पिछड़े वर्गों को उनकी तादाद और महत्व के अनुपात में राजनीति में स्पष्ट भागीदारी मिले। इसके लिए साहित्यकारों को अपनी लेखनी की ताकत दिखानी होगी लेकिन ईमानदारी से कहा जाए तो स्पष्टता की कमी, अंतर्विरोधी मान्यताएं और निष्कर्ष तथा दुहराव ये आज के साहित्यकारों के लेखन के कुछ ऐसे गुण हैं जो खीझ पैदा करते हैं। समस्याओं की जटिलता या उनके स्थायित्व के कारणों को समझने के लिए ज्यादा माथापच्ची करना उन्हें मुनासिब नहीं लगता और समस्या के तात्कालिक हल सुझाने की जल्दबाजी वर्तमान साहित्य में अकसर दिखाई दे जाती है। हम यह कदापि नहीं कहते कि वर्तमान साहित्य में समाज के शोषित और पीड़ित को राह दिखाने की क्षमता नहीं है अपितु वह पथभ्रष्ट होने से किसी हद तक बचाता भी है क्योंकि ''प्राचीन में भी कुछ बहुत अच्छा था, कुछ बुरा। बुरे के हम शिकार हुए तथा अच्छे ने हमें सर्वनाश से बचा लिया। क्या वर्तमान और भविष्य के लिए हम प्राचीन से कुछ ले सकते हैं ? प्राचीन की गलतियों से बच सकते हैं।''[9] सम्भवतः इसी का विचार करते हुए कुछ साहित्यकारों ने लगातार उन समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान खींचा है जिन्हें हल किए बिना स्त्री और पिछड़े की मुक्ति असम्भव है। हिंदी के कुछ गिने–चुने लेखकों ने स्त्री विमर्श को मध्यवर्गीय स्त्रियों का उपभोक्तावादी विमर्श बनने से रोकने की चेष्टा की है तथा उपेक्षितों और वंचितों की ओर इस विमर्श को मोड़ा है।

लोकतंत्र एक स्वस्थ जीवन पद्धति है। यह सर्वोदय और स्वराज की आधाशिला पर आधारित है। स्वस्थ लोकतंत्र वर्ग–विहीन व समरस समाज की परिकल्पना का साकार रूप होता है। किन्तु भारतीय लोकतंत्र जो विश्व का सबसे बड़ा और परिपक्व लोकतन्त्र माना जाता है वह समय के साथ ''नीति के क्षरण'' और ''राज के हरण'' का माध्यम मात्र बनता जा रहा है। इस लोकराज में लोकलाज की भावना तिरोहित होती दिखाई दे रही है। राजनीतिक छल–प्रपंच ने

लोकतान्त्रिक व्यवस्था में विसंगतियाँ पैदा करके उसे पंगु बना दिया है। जबकि पुरुष प्रधान समाज व्यवस्था में नारी समानता के लिए संघर्षरत है। दलित केवल सत्ता पाने का साधन मात्र बनकर रह गया है। विकलांग केवल सहानुभूति और श्रद्धा के दौर से गुजरने को विवश है। आम आदमी की अस्मिता रोटी, कपड़ा और मकान तक ही सीमित है और वह ये सभी वर्ग राजनीति के हाथों बार–बार ठगे जाकर भी उसी में अपने जीवन का सहारा खोजते हैं, जैसे ''हारे को हरिनाम'' वैसे ही ''सर्वहारे को नेताजी का धाम''। जिस प्रकार परिवार में पति बुजुर्वा होता है और पत्नी सर्वहारा की स्थिति में होती है, उसी प्रकार लोकतन्त्र की राजनीति और सत्ता–संघर्ष में नेता बुजुर्वा है और आम मतदाता सर्वहारा है क्योंकि इस लोकतान्त्रिक राजनीति में ''जन'' हमेशा हारता है और ''नायक'' सदैव जीतता है, तब जाकर वह ''जननायक'' बनता है। सत्ता के गलियारों में आम आदमी ठगा–सा महसूस करता है, यही उसके जीवन की त्रासदी और विडम्बना है। इसी त्रासदी का चित्रण करना साहित्य का परम् पुनीत कर्त्तव्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम अत्याधुनिकता की दौड़ और अंधानुकरण की होड़ में ''सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय'' के मूलमंत्र को भुला बैठे हैं। इसके कारण हम आधुनिक तो बन नहीं पाए, पारम्परिक जीनवमूल्य भी भुला बैठे। जबकि ''आधुनिकता की तीन शर्तें हैं–एक ऐतिहासिक बोध, दूसरी इहलोक में ही कल्याण की आस्था और तीसरी व्यक्तिगत कल्याण की जगह सामूहिक कल्याण की एषणा।''[10]

निष्कर्ष

तथ्य और सत्य यही है कि हमारा वर्तमान साहित्य अतीत के खण्डहरों में बिखरी पड़ी मावनीय संस्कृति को पूर्णतः सहेज कर नहीं रख पा रहा है, तभी तो दलित, पीड़ित, शोषित और सर्वहारा वर्ग राजनीतिक विद्रूपताओं से संघर्ष में ही जीवन बिता देता है किन्तु कुछ सजग साहित्यकार हमें निराशा के अंधेरे से निकालकर आशा का उजाला भी दिखाते हैं। अतः हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है।

सन्दर्भ सूची

1. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास – हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ संख्या – 258
2. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास – हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ संख्या – 259
3. हिन्दी के महाकाव्यात्मक उपन्यास – डॉ. शंकर बसन्त मुद्गल, पृष्ठ संख्या – 29
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ संख्या – 384
5. हिन्दी उपन्यासः उपलब्धियाँ – डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृष्ठ संख्या – 11
6. दैनिक जागरण, अमरोहा संस्करण, दिनांक 26 जनवरी 2015
7. भारत–भारती – मैथिलीशरण गुप्त, अतीत खंड, छन्द 79
8. गगनांचल, अंक 6, नवम्बर – दिसम्बर 2018, पृष्ठ संख्या – 12
9. आजकल (मासिक), जुलाई 1957, पृष्ठ संख्या – 18साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 17 जून 1979 – मनोहर श्याम जोशी, पृष्ठ संख्या – 22